

## लोक कला: उद्भव और विकास



Referee-Dr. Ram Viranjam, Chairman, Fine Arts, KUK

\*डॉ. गुरचरण

### लोक कला: अर्थ एवं स्वरूप

कला के उद्भव और विकास की कहानी अनन्त हैं। मानव-जीवन के अभ्युदय के साथ ही कला का जन्म हुआ और मानवता के विकास के साथ ही वह आगे बढ़ी। अतीत के सभी युगों पर उसके अस्तित्व की छाप विभिन्न रूपों में बनी रही है। लोक कला का उद्भव किस निश्चित कालावधि में हुआ, यह कहना अत्यन्त कठिन है। लोक भावना के उद्गम पर भी विचार करें तो हमें सर्वप्रथम वेदों में विशेषतः "ऋग्वेद" में इस शब्द और भाव का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में लोक शब्द का प्रयोग और स्थान भुवन के अर्थ में प्राप्त होता है। लोक कला मानव सभ्यता के विकास के साथ आदि कला एवं सुसंस्कृत कला के मध्य विद्यमान रही है। आदि मानव के चित्रों में तत्वों का रूप अनगढ़ था, बहुत कुछ वैसा ही लोक कला में भी दिखाई देने के कारण आदिम चित्रों से लोक कला का प्रारम्भ माना जा सकता है। लोक कला की उत्पत्ति के संदर्भ में कोई श्रृंखलाबद्ध या निश्चित प्रमाण नहीं है। तथापि लोक कला का विकास मानव सभ्यता के विकास के साथ स्वीकार किया गया है।

लोक कला की उत्पत्ति लोक शब्द से मानी गई है। लोक शब्द अंग्रेजी के 'फोक' का हिन्दी रूपांतरण है। 'फोक' शब्द की उत्पत्ति एंग्लो-सैक्सन शब्द 'फोर' से हुई है। जर्मनी में यह 'वोक' रूप में प्रचलित है। 'फोक' शब्द के संकुचित और व्यापक दोनों अर्थ उपलब्ध होते हैं। 'लोर' शब्द की उत्पत्ति एंग्लो सैक्सन शब्द 'लोर' से हुई है जिसका अर्थ है— वह जो सीखा जाए। अतः 'फोक लोर' का शाब्दिक अर्थ हुआ सुसंस्कृत लोगों का ज्ञान।<sup>9</sup>

'लोक' शब्द शास्त्रों में सम्पूर्ण सृष्टि के लिए प्रयुक्त हुआ है यथा मर्त्यलोक, स्वर्गलोक आदि। सामान्य व्यवहार में लोक शब्द समस्त मनुष्य जाति के लिए प्रयुक्त होता रहा है, जो बोलचाल की भाषा में बिगड़कर 'लोग' हो गया है। लोक अथवा लोग शब्द का प्रयोग जनसधारण के लिये किया जाने लगा है। लोकाचार, लोकोक्ति, लोककथा, लोकतन्त्र, लोकनायक आदि शब्दों में लोक शब्द का तात्पर्य समान्य जन से होता है।<sup>10</sup>

गीता जैसे हिन्दु धार्मिक ग्रन्थों में भी लोक तथा लोकसंग्रह जैसे शब्दों का अनेकों बार प्रयोग किया गया है जो कि इस शब्द की प्रचीनता का द्योतक है:

**कर्मणो वि हिंस सिद्धिमास्थिता जनकादयः।**

**लोक संग्रह मेवापि संपश्यन् कर्तुं महसः।<sup>11</sup>**

लोक शब्द की प्राचीनता के प्रमाण हमें वेदों में भी मिलते

हैं। ऋग्वेद में अनेकों जगहों पर 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है, वेदों में भी कहीं-कहीं पर 'जन' शब्द के रूप में भी इसका प्रयोग किया गया है। प्रो. ए.के. हलधर ने लोक कला के सम्बन्ध में लिखा है कि "लोक कला परम्परागत कला का वह आवश्यक स्वरूप है, जिसकी उपेक्षा गंवारु और ऊबड़-खाबड़ कला कहकर नहीं की जा सकती, चूंकि इसका संबंध मानव की भावनाओं से सीधा है।"<sup>12</sup> सामान्यतः लोक शब्द सम्पूर्ण मानव जाति हेतु प्रयुक्त होता है। यहां तक कि वेदों में भी लोक शब्द का प्रयोग जन के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्य बोलचाल की भाषा में लोक शब्द बिगड़कर लोग हो गया है। लोक शब्द से अभिप्राय गांव एवं नगरों में रहने वाले जनसामान्य से है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है— कि लोक शब्द का अर्थ जनपद अथवा ग्राम समुदाय नहीं है। बल्कि वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं और जो सरल एवं अकृत्रिम जीवन की अभ्यस्त हैं। लोक कलाओं का आदि प्रणेता कौन था? इसका जन्म कहाँ, कैसे और कब हुआ? यह बता पाना कठिन है। लोक कलाओं की परम्पराएं तो ढूंढी जा सकती हैं, किन्तु कोई इतिहास निश्चित नहीं किया जा सकता है। मान्यता है कि सभ्यता के विकास के आदिकाल में विचारों के आदान-प्रदान के लिए जिस प्रकार क्रमशः इषारों, ध्वनियों का विकास हुआ। उसी प्रकार लोककला का भी विकास हुआ।

वास्तव में लोक कला का जन्म जनमानस में सर्जनात्मक कला प्रवृत्ति के विकास के साथ ही माना जाना चाहिए। जैसे-जैसे मनुष्य में परिष्कृत रुचि का विकास हुआ, वैसे-वैसे उसकी सौन्दर्य-दृष्टि में भी निखार आया। उसने अपने आस पास की वस्तुओं को सजा संवारकर रखना आरम्भ किया, अपने परिवेश के उपादानों को अधिकाधिक नेत्र-रंजक आकर्षक और सुखदायक बनाने की दिशा में जब आदमी ने अपनी स्वाभाविक कला दृष्टि को काम में लेना शुरू किया तो उसे लोक कला के अविश्कार की प्रेरणा मिली। लोक कला का जन्म कला के जन्म के साथ जुड़ा हुआ है। जब आदिमानव पशुओं की भांति गुफाओं में निवास करता था, तब भी लोक कला का प्रचलन था। इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। जब वह अपनी भौतिक जरूरतों से सतुष्ट होने लगा तो कदाचित किसी अज्ञात प्रेरणावश वह अपनी उस स्थिति से थोड़ा ऊपर उठा। उसने अपने ग्रह-विकास को थोड़ा आभूषणों, वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं के माध्यम से सजाकर अपने आस पास का अंधेरा कम करने की

\*कला अध्यापक ज.न. वि. बरनाला, पंजाब

चेष्टा आरम्भ की। ऐसा करते हुए निश्चित ही उसे सन्तोष हुआ होगा जिसे लगातार प्राप्त करते रहने के प्रयास में आगे चलकर, उसने बर्तनों, भोजपत्रों व अन्य दैनिक उपयोग की वस्तुओं में बेलबूटों, फूलपत्तों आदि के डिजाईन बनाने आरम्भ कर दिए। आकार या आकृति-निर्माण की मन स्थिति भी तभी बनी। इस प्रकार आदि मानव अपनी संवेदनशीलता एवं अभिव्यक्तिगत सामर्थ्य के कारण चित्रकला तथा खुदाई आदि के कौशलपूर्ण कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ।<sup>10</sup>

लोक कला के सूत्र वैदिक काल के पूर्व से प्राप्त होते हैं। किन्तु उसका अभ्युदय कब और भारतवर्ष के किस आंचल में हुआ इसका विवेचन कर पाना सम्भव नहीं है। प्रागैतिहासकालीन जो चित्र मिले हैं उनमें अनेक ऐसे हैं जिन्हें हम वेध्यक लोक कला की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की खुदायी से जो कला सामग्री प्राप्त हुई है वह भारतीय लोक कला की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता बड़ी उत्कृष्ट थी। उस युग के कलाकार धार्मिक प्रकृति के साथ-साथ विभिन्न कलाओं में निपुण थे। उनके द्वारा निर्मित की गई कला सामग्री में मिट्टी के विभिन्न आकार के बर्तनों पर चित्रकारी वाली वस्तुओं, बच्चों के खेलने के लिए चार पहिये वाली गाड़ी व सिर हिलाने वाले पशु पक्षियों की आकृति के खिलौने मिट्टी की बनी छोटी बड़ी दैविक मूर्तियाँ आदि प्रमुख हैं जो लोक कला के श्रेष्ठ नमूने कहे जा सकते हैं। उस युग की कला सामग्री का भारतीय लोक कला से गहरा सम्बन्ध लक्षित होता है और उसकी विषिष्टता एवं प्राचीनता के विषय में एक सीमा तक जाना जा सकता है।<sup>11</sup> खुदाई में मिले सिन्धु घाटी की सभ्यता कालीन मृद-पात्रों पर बनाए गए चित्रों को देखें तो लोक कला की सृष्टि परम्परा बनती दृष्टिगत होती है।

लोक कला के विकास को हम सहित्य के विकास के साथ देखें तो अधिक उचित होगा। जिस प्रकार हमारे वाङ्मय की समृद्धि के दो पक्ष रहे हैं उसी प्रकार हमारी कला की समृद्धि भी दो रूपों में आगे बढ़ी। हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृत ने साहित्य की अभिवृद्धि के लिए एक साथ ही जिन दो भाषाओं को जन्म दिया उनमें से एक संस्कृत और दूसरी थी लोकभाषा। भारतीय वाङ्मय के विकास के लिए जो कार्य परोक्ष रूप से प्राकृत, अपभ्रंश और उनकी अनेक विभाषाओं ने किया, संस्कृत लोक-बोलियों की भी देन उससे किसी भी अंश में कम नहीं रही। लोक कला ने अपना विकास विभिन्न क्षेत्रों में किया है जिसका एक रूप परंपरागत विष्वासों, संकेतों एवं संस्कारों पर आधारित है एवं दूसरे रूप में समाज के रीति-रिवाजों का इस कला पर प्रभाव पड़ा है। यहां लोक कला और अभिजात्य कला में अंतर जान लेना भी आवश्यक है। अभिजात्य कला का विकास राजाओं पर आश्रित कलाकारों द्वारा हुआ, जो स्वतंत्र रूप से काम नहीं कर सकते थे। इसके इतिहास का पता हमें अजंता, एलोरा, बाध, राजपूत, मुगल इत्यादि भारतीय कलाओं द्वारा चलता है।

अभिजात्य कला से आषय समाज के उस धन-संपन्न एवं कुलीन वर्ग से है जिससे संबद्ध कलाकार किसी गुरु अथवा कला आचार्य के मार्गदर्शन में कला के समस्त नियमों, तकनीक एवं माध्यम की पूर्ण शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा अपनी कला को निरंतर अभ्यास द्वारा परिष्कृत बनाते हैं। अभिजात्य कला का अन्य नाम "षास्त्रीय कला" भी है। अभिजात्य कला में जटिल विधियां एवं शैलियों को अपनाया जाता है। इसमें बौद्धिकता का आश्रय होने के कारण अभिव्यक्ति की सहजता एवं सरलता समाप्त हो जाती है। बौद्धिकता की अधिकता के कारण वह तार्किक व वैज्ञानिक भी हो जाती है। अभिजात्य कला की प्रविधि और तत्त्वों के संयोजन में जटिलता होती है। इसके लिए निरंतर अभ्यास करना पड़ता है, ताकि शैलीगत गुणों का विकास हो सके। अभिजात्य कला के विपरीत लोक कला का विकास प्रचलित कला के रूप में हुआ जिसका व्यावहारिक रूप समाज में उसके प्रचलन में दिखता है, जैसे लोक कला, लोक भाषा, लोक बोली, लोक कहानी, इत्यादि। यह लोक कला कलाकार की स्वतंत्र भावना पर आधारित होती है न कि किसी दूसरे की इच्छा से बनाई जाती। लोक कला का आश्रयदाता स्वयं लोक मानस ही होता है और साधारण जन के संरक्षण में ही पलती-बढ़ती है। लोक शब्द से हम समाज की व्यावहारिक भावनाओं को समझते हैं और कला शब्द से शास्त्रीय कला को। शास्त्रीय कलाओं के अंतर्गत संगीत, चित्रकला, काव्यकला, मूर्तिकला एवं वास्तुकला आती है।

कलाओं की उन्नति में लोक कला का भी बहुत महत्त्व है। शास्त्रीय कलाओं का विकास जहां राजाओं के दरबारी आश्रय में व्यवसायी कलाकारों के द्वारा होता है, वहीं लोक कला का विकास साधारण जनता के घरों के प्रांगण में, ग्रामांचलों, अनपढ़ परिवारों और अशिक्षित जनजातियों के घरों में बिना किसी आश्रय या प्रसिद्धि के सरल, शांत एवं स्वाभाविक रूप से धार्मिक तथा सांस्कृतिक व पारिवारिक रुढ़ियों एवं परंपराओं के साथ बौद्धिकता के बिना ही निरंतर होता रहता है। लोक कला के विकास में किसी आश्रय, प्रलोभन या प्रोत्साहन की जरूरत नहीं होती और वह स्वतंत्रता तथा मौलिकता के साथ सदैव आगे बढ़ती रहती है। उसका मूल सम्बन्ध समाज, जन-समुदाय, राष्ट्र एवं उसके प्राणी-समुदाय से भी होता है। लोक कला की खोज एवं अनुसंधान का काम जब अनेक विद्वानों ने प्रारंभ किया तभी से लोक कला तथा लोक-साहित्य के भण्डारों का ज्ञान हुआ। लोक कला का विकास एवं प्रसार अनेक विधाओं में देखा जा सकता है। लोक कला एक ओर दैवी रूपों एवं प्रतीकों तथा परम्परागत विष्वासों पर आधारित है तो दूसरी ओर सामाजिक पक्ष के रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं पर आधारित है। लोक-कला में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों एवं देवी-देवताओं का परम्परागत महत्त्व होने के कारण उसमें सर्वप्रथम प्रतीकात्मक रूपों का अंकन तथा चित्रण प्रधान होता है। इसी कारण लोक कला का प्राथमिक रूप प्रतीकात्मक होता है। परंतु सामाजिक रीति रिवाजों के प्रतीकों की प्रधानता नहीं होती है। बल्कि स्पष्ट एवं

सरल रेखांकन या चित्रण ही प्रधान होते हैं। लेखक स्टीवैन्स के मतानुसार “लोक कलाओं का आदिमानव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदिमानव ने प्राकृतिक शक्तियों से प्रेरित होकर सरल भाव से दैवी शक्तियों का पूजन किया। उसने अपने संकटमय अनिश्चित दैनिक जीवन में अनेक काल्पनिक शक्तियों का आश्रय लिया जिन्हें उसने किसी न किसी रूप या आकार में रचकर अपने शुभ के लिए उनकी पूजा की।<sup>12</sup> आदिमानव के लिए इस प्रकार भित्ति चित्र दैवी-शक्ति से परिपूर्ण, पूजा-प्रसादन के पात्र बन गये। वस्तुतः भित्ति चित्रों का प्रयोग मानव आदिकाल से ही आतंककारी दैवी शक्तियों और अपने मध्य सम्पर्क के रूप में करता रहा है तथा इसी माध्यम से उसमें विद्यात्मक मान्यताओं का अनुकरण भी हुआ। इन्हीं मान्यताओं की परिपूर्ति के लिये उसने सहज ही प्राथमिक ज्यामितिक आकृतियों का प्रतीकों के रूप में सहारा लिया था जो समय के साथ-साथ देश व काल की मर्यादाओं में विविध रूपों में परम्परित होते रहे हैं। मानव की स्वाभाविक जिज्ञासु प्रवृत्ति ने उन्हीं आदिम चित्रों के इर्द-गिर्द कथा-कहानियों के ताने-बाने बुन दिये। जिससे उसने किसी न किसी रूप या आकार में रचकर अपने शुभ के लिए उनकी पूजा की।

लोक कला में प्रतीकों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। कला में प्रतीक प्रदर्शन की परम्परा अति प्राचीन है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त अवशेषों से भारतीय कला में प्रतीकों के महत्व का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। भाषा और कला के उद्भव से पूर्व आदिम कलाकार संकेतों और प्रतीकों द्वारा अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करते थे। उन्होंने अपनी अंग-तरंग द्वारा प्रतीकों का सर्जनात्मक स्वरूप खड़ा किया था। उस युग के प्रतीक आज भी भारतीय लोक कला में उतने ही ग्राही और लोकप्रिय बने हुए हैं जितने युगों पूर्व थे।<sup>13</sup> प्रतीकोपासना के साथ धार्मिक भावना का प्रसार हुआ और भक्तों के लिये दैवीय मूर्तियां उनकी उपासना का साधन बनीं। आदिम निवासी अनगढ़ कल्पना प्रवण थे। उन्होंने अपनी कल्पना और कला प्रतिभा से ईश्वर का साकार रूप प्रस्तुत किया। ईश्वर के साकार रूप ने आगे चलकर विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का रूप धारण कर लिया जो भक्त समाज के लिए आकर्षण का केन्द्र बने।

**धर्म से सम्बन्ध** लोक कला जन सामान्य के परम्परागत धार्मिक भावना के रूप में विकसित हुई है। जिसको जीवित रखने का श्रेय ग्रामीण समाज को ही जाता है। भारतीय लोक कला धार्मिक जीवन से बंधी हुई है। लोक कला का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह घनिष्ठता चिरकाल से चली आ रही है। लोक कला में धार्मिक संस्कारों की भावना इस सीमा तक समाहित है कि उसकी उपेक्षा करना संभव नहीं है। आर्यों के भारत आगमन से पूर्व आदिम निवासी धार्मिक प्रवृत्ति के थे और उनकी कला विकसित रूप में विद्यमान थी। उनकी चेतना प्रतीकोपासना पर आधारित थी। उनका उद्देश्य प्रतीकों के माध्यम से जन जीवन में धर्म का सन्देश देना था। वे विपत्ति,

असहाय अवस्था, शत्रु विनाश, कुन्बे की सुरक्षा व मनोकामना की पूर्ति हेतु सर्प, वृक्ष, नदी, लिंग, योनि व अन्य प्रकृति की शक्तियों की प्रतीक के रूप में पूजा करते थे। आदिम निवासियों द्वारा स्थापित की गई प्रतीकोपासना की लोक कला पर गहरी छाप दिखाई पड़ती है।<sup>14</sup> जब मानव में बौद्धिक विकास हुआ और विस्तार के साथ उसमें धार्मिक चेतना भी विकसित हुई तथा अनेक देवी-देवताओं की आराधना का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। प्राचीन काल में अनेक देवी-देवताओं का वर्णन मिलता है। वेद, उपनिषद् आदि में भी अनेक अभिप्राय मिलते हैं जिनके द्वारा लौकिक तथा अलौकिक साकार रूप, पाषाण, देव, नाग, वृक्ष आदि का अंकन लोक कला में हुआ है। इस तरह लोक कला के आदि स्रोत वे देवी-देवता हैं जिनके माध्यम से हम उन अभिप्रायों का अंकन करते हैं। लोक कला में लोक विश्वास, रीति-रिवाज एवं परम्परा के स्पष्ट दर्शन होते हैं।<sup>15</sup> समाज में निश्चित तिथियों पर कुछ धार्मिक त्यौहार और संस्कार सार्वभौमिक रूप से मान्य हैं, भारत के सांस्कृतिक विकास में लोक कला का सराहनीय योगदान रहा है। लोक कला सदैव धार्मिक परम्पराओं के रूप में विद्यमान रही है। जन्म, मरण, नामकरण-संस्कार, शादी-विवाह, तीज-त्यौहार आदि पर मनोवांछित देवात्माओं को विभिन्न आकारों में लोक कला के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। श्रीमती शची गुर्त ने लिखा है “जनकला केवल शादी-ब्याह तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह सर्वश्रेष्ठ आचारों, संस्कारों और जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में रम गयी है। यह तो जनपद के हृदयगत उद्गार हैं, जो लोक-परम्परा के रूप में लोक चित्रण कहलाते हैं।<sup>16</sup> लोक त्यौहारों, पर्वों, उत्सवों, होली, दीवाली, दशहरा, करवाचौथ, नागपंचमी, होई आटे, सांझी के त्यौहार, दन्तकथाओं, लोककथाओं एवं नीतिकथाओं आदि को लोक चित्रण के रूप में आंकने की प्रथा धरती, दीवार व अन्य रूपों में प्रचलित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है “लोकचित्रण धर्म की एक इकाई है जिसे व्यक्ति अपनी धार्मिक भावनाओं को व्यक्त करने से प्रयोग में लाते हैं।<sup>17</sup> सत्य तो यह है कि लोकचित्रण में धर्म की अभिव्यक्ति है जिसके पीछे मानवीय धार्मिक भावनाओं की लंबी कहानी छिपी हुई है। लोक चित्रण में धर्म कूट-कूटकर भरा हुआ है। श्री ई. बी. डे. ने लिखा है—

“Folk art contains religious ideals of the traditions.”<sup>18</sup>

इसके अतिरिक्त कला को धर्म के प्रचार का माध्यम में माना गया है। साधारण जन का विश्वास है कि लोक चित्रण से वे अपने मनोनीत देवी-देवताओं की चित्रों द्वारा उपस्थिति कर देते हैं। जैसा कि हम बच्चे के जन्म के समय देखते हैं कि दीवारों पर देवी-देवताओं को अंकित कर दिया जाता है, उनके विश्वास के अनुसार चित्रित देवता जच्चा और बच्चा दोनों से रक्षा करते हैं। डॉ. कारेल सौर्क ने लिखा है—

“Folk Art is a medium through which the religious roots can be spread among people.”<sup>19</sup>

लोककला के अन्तर्गत हमें सामाजिक उत्सवों, धार्मिक,

संस्कारों तथा अन्य विषिष्ट अवसरों पर जन-आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाली कलाकृतियों के दर्शन प्रायः प्रत्येक अंचल में होते हैं। विशेषतः ग्रामीण अंचलों में जहां भौतिक सुविधाओं और मषीनी जिन्दगी का वातावरण नहीं मिलता, ग्राम्यांचलों में आज भी परस्पर सहयोग, सदभावना तथा बहुजनहिताय की सामूहिक भावना मिलती है। अनगढ़ कलाकार धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत होकर बड़ी रुचि के साथ अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं। लोक कलाकार का उद्देश्य अपने धर्म के माध्यम से पर्वों, अनुष्ठानों, त्यौहार एवं संस्कारों में लोक कला को चित्रित करना होता है। इन्हीं शुभ अवसरों पर लोक जन अपनी परंपरा को चिरकाल से अपनाता चला आ रहा है, लोक कला में सांस्कृतिक क्रिया-कलापों से समाज की एकता जुड़ी रहती है। इन्हीं सांस्कृतिक क्रियाकलापों से मानव का क्रमबद्ध इतिहास बन जाता है। प्रागैतिहासिक युग से वर्तमान काल तक लोक कला हमारे जीवन का अटूट अंग बनी हुई है। वह अपने परम्परागत विष्वासों, धारणाओं, संकेतों और अतीत की प्रेरणा पर आधारित सामाजिक रीति-रिवाजों को प्रदर्शित करती आ रही है। समाज में धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित सभी का लोक-चित्रकला पर समान रूप से अधिकार रहा है। यह लोक-चेतना को व्यक्त करने का सरल माध्यम है। लोक कला समाज के रीति-रिवाजों पर अवलंबित है क्योंकि यह परंपरागत धाराओं, विष्वासों, आस्थाओं संकेतों पर आधारित है। यह समाज के रीति-रिवाजों, विवाहों, धार्मिक-पूजन इत्यादि पर घरों में चित्रित की जाती है। साथ-साथ इसका संबंध हमारी सांस्कृतिक भावनाओं से भी है। समाज के रीति-रिवाजों के

बदलने पर लोक कला में भी परिवर्तन दिखने लगता है। जन साधारण की भावनाओं एवं संस्कारों से मिलकर इसने अपने को समाज में स्थाई बना लिया है। परंतु समाज के परिवर्तनों के साथ यह भी बदलती गई एवं विकसित होती गई जिससे यह आज भी जीवित है तथा इसकी एक अपनी अलग आस्था है।

लोक कला में जीवन का प्रवाह है और भावों की रोचकता भी है। लोक कला में भावना का संबंध इतना सीधा और सच्चा है कि उसे लोक जीवन से अलग नहीं किया जा सकता है। उपयोगिता की दृष्टि से यदि लोक कला का मूल्यांकन किया जाए तो उसके लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं अपितु दैनिक प्रयोग की वस्तुओं, वस्त्रों व बर्तनों आदि की सामग्री में हमें लोक कला के आकर्ष विन्यास देखने को मिलते हैं। लोक कला से हमारी निकटता एवं आत्मीयता इतनी अधिक है कि इसकी उपस्थिति हम हर जगह अनायास ही पाते हैं। एक कलाकार से लेकर एक साधारण ग्रामवासी तक सभी की लोक कला में समान अभिरुचि है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि लोक कला हमारी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। लोक कला समूहगत भावना से उपजी एक ऐसी कला है जो किसी की भी व्यक्तिगत धरोहर नहीं है। लोक कला तो परम्परा व संस्कारों से जुड़ी हुई कला है जिसमें समाज में रहने वाले सभी लोगों के लिए मंगल की कामना की जाती है। लोक कला की महत्त्वपूर्ण उपयोगिता यह है कि इसमें हमें राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता का आभास मिलता है।

## संदर्भ ग्रंथ

1. गोस्वामी, प्रेमचन्द, भारतीय कला सौन्दर्य, पृ.-98
2. श्रोत्रिय, शुकदेव, कला विचार, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, पृ.-62
3. गोस्वामी, प्रेमचन्द, भारतीय कला सौन्दर्य, पृ.-99
4. श्रोत्रिय, शुकदेव, कला विचार, चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, पृ.-113
5. भगवद्गीता 3/20
6. सक्सेना, सरन विहारी लाल, कला सिद्धान्त और परम्परा, भारतीय चित्रकला की सैधांतिक विवेचना, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2001, पृ.-62
7. वही, पृ.-62
8. वही, पृ.-63
9. गोस्वामी, प्रेमचन्द, भारतीय कला के विविध स्वरूप, पंचषील प्रकाशन, जयपुर, 1997, पृ.-40
10. वही, पृ.-40
11. सक्सेना, एस.एन., दृष्य कला एवं दृष्टिकोण: कला मूल्यांकन, मनोरम प्रकाशन, कानपुर, 2001, पृ.-77
12. बर्मा, अविनाश बहादुर, कला एवं तकनीक, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2000, पृ.-49
13. सक्सेना, एस.एस., दृष्य कला एवं दृष्टिकोण: कला मूल्यांकन, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2000, पृ.-78
14. वही, पृ.-77
15. गोस्वामी, प्रेमचन्द, भारतीय कला सौन्दर्य-पृ.-100
16. सक्सेना, सरन विहारी, सुधा सरन, कला सिद्धान्त और परम्परा, मनोरम प्रकाशन, कानपुर, 2001, पृ.-66
17. वही, पृ.-67
18. वही, पृ.-68
19. वही, पृ.-68